

रंगमंच के विकास के प्रश्न और व्यावहारिक कठिनाइयाँ

सियाराम शरण प्रसाद

Natrang, January - March, 1966

शिक्षण संस्थाएं तथा नाट्यकला

विवेक दत्त झा

Sanskriti Issue 2/3, 1973

Muddled thinking on
'national' theatre

By Shanta Serbjeet Singh

Economic Times, 18/06/1978

Contextualizing Theatre and Cultural Policy
in India (1960s - 70s)





नटरंज

भारतीय रंगमंच का औमासिक



संपादक: नेमिचंद्र जैन



साहित्यिक और रंगमंचीय दोनों ही दृष्टियाँ नाटक के खंड चित्र को ही देखती हैं। और इनके समन्वय के प्रयत्न कला के मूल स्वरूप को पहचानने में तो कोई मदद करेंगे नहीं, बल्कि इस या उस तत्त्व की प्रधानता के अनावश्यक विवाद को कायम रखे रहेंगे। संश्लेषणात्मक कला-रूप नाटक अनेक कलाओं के तत्त्वों को लेकर अपना रूपायन करता है : अभिनय, नृत्य, संगीत, चित्र, स्थापत्य, शिल्प, और साहित्य सभी अपनी स्वतंत्र सत्ता खोकर नाटक के आविर्भाव में योग देते हैं। जब हम इनमें से अन्य किसी कला के स्वतंत्र सौंदर्य नियम के आधार पर नाटक का मूल्यांकन नहीं करते, तो साहित्य को ही यह विशिष्टता क्यों प्रदान की जाय ? नाट्य कला के विश्लेषण का अर्थ है इन सभी कलाओं के संश्लेषण नियमों और नाटक की अन्य विशिष्ट स्थितियों की खोज; और नाटक के मूल्यांकन का आधार है 'कि वह अन्य कलात्मक-सृजनात्मक अभिव्यक्तियों की भाँति, किसी न किसी तीव्र और गहरी और महत्वपूर्ण अनुभूति, भाव, विचार, जीवन-दृष्टि या परिस्थिति को प्रस्तुत करता' (श्री नेमिचंद्र जैन) है या नहीं।

जब तक हम नाटक को उसी प्रकार स्वतंत्र और पूर्ण कला नहीं स्वीकार करते जिस प्रकार, संगीत, चित्र, शिल्प, स्थापत्य, साहित्य, नृत्य और फ़िल्म को करते हैं, तब तक हम न तो उसकी वास्तविक प्रकृति ही ढूँढ़ सकते हैं और न दिन प्रतिदिन उसके रूप (फ़ॉर्म) और वस्तु (कंटेंट) में होने वाले विविध परिवर्तनों की सुसंगत व्याख्या ही कर सकते हैं।^१

अपने विश्व व्यापी दीर्घकालीन इतिहास, और विधाओं की विविधता के मध्य नाटक ने अनेक बार

१. 'पढ़ने के लिए भाषिक निर्मिति, कम से कम आधुनिक उपन्यास, मंच पर देखे गये नाटक से इतनी भिन्न है कि एक ही कला की दो उपजातियाँ मानने के बजाय इन्हें दो अलग-अलग कलाएँ मानने के लिए विवश होना पड़ता है।' रोनल्ड पीकोक : 'द आर्ट ऑफ़ ड्रामा' (१९६०) पृ० १०४।

काव्य तत्त्वों का प्रचुर प्रयोग किया है—कभी नाटकीय नियमों से पूर्णतया अनुशासित कर और कभी नाटक को महज काव्य श्रवण का बहाना बना कर। यही बात नाटक के अन्य तत्त्वों के साथ भी लागू है। नाटक की निजी सत्ता ढूँढ़ निकालने के बाद ही हम उसमें काव्य-स्थिति की साथकता के आधारों को भी ढूँढ़ सकेंगे।

हम नाट्य समीक्षा के किसी मानदंड का पूर्ण निर्धारण नहीं कर सकते। यह क्रमशः विकसित होगी। नाट्यानुभूति के प्रति हमारी सतत, जागरूक विकास-मान संवेदनशीलता, अपनी नाट्यानुभूतियों का विश्लेषण, प्रभाव और बाधा के उत्तरदायी कारणों की खोज और सबसे बड़ी बात—श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम नाट्यकृतियों का सृजन—ये ही नाट्य समीक्षा के मानदंड का विकास करेंगी। पूर्व और पश्चिम के रंगमंच और नाटक संबंधी सिद्धांतों को हमें बंधन और रूढ़ि के रूप में नहीं लेना है। उनकी साथकता दिशा निर्देश भर में है। वे नाट्य कला के विकास की विभिन्न सरणियों और स्तरों का ही विश्लेषण और प्रतिनिधित्व करती हैं। किंतु यह सजीव कला तो निरंतर आगे बढ़ती जा रही है। पुराने सिद्धांतों के अध्ययन-मनन से हम अनावश्यक आदृतियों से बच सकते हैं और हमारी चिंतनशीलता की बुनियाद गहरी हो सकती है।

रंगमंच के विकास के प्रश्न और व्यावहारिक कठिनाइयाँ

सियाराम शरण प्रसाद

यह तथ्य प्रामाणिक है कि रंगमंच का पूर्ण विकास और प्रचार भी नहीं हुआ था कि चित्रपट का आगमन हो गया और इसने नाटकों को विशेष रूप से धक्का पहुँचाया। इसने हिंदी के प्रचार से तो हिंदी की सेवा की, परंतु स्तर की दृष्टि से इसे संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। चलचित्रों में हल्के रोमांस और कौतू-



हल से जनता की अभिरुचि बिगड़ गयी।

आज स्वतंत्रता के उपरांत पुनः हिंदी जनता और समाज तथा सरकार का ध्यान इस ओर विशेष आकृष्ट हुआ है। रंगमंच के लिए अनेक प्रयत्न हुए हैं : (१) सरकारी मदद से अच्छे-अच्छे रंगमंच स्थापित हुए और हो रहे हैं और नाटक-मंडलियों का निर्माण हुआ है। सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं को इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए आर्थिक तथा अन्य प्रकार के सहयोग मिल रहे हैं। (२) अभिनय में पुरुषों के साथ स्त्रियाँ भी भाग लेने लगी हैं। (३) कालेज और स्कूलों में भी इस ओर ध्यान दिया जाने लगा है तथा परिश्रम द्वारा अच्छे नाटक सफलता से रंगमंच पर उपस्थित किये जाने लगे हैं। यद्यपि ऐसी संस्थाओं के स्थायी रंगमंच नहीं हैं, तथापि अच्छा प्रयत्न चल रहा है और इन संस्थाओं में अच्छे नाटक प्रदर्शित होते रहे हैं। (४) अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक संस्थाओं के निर्माण हुए हैं और हो रहे हैं और उनके अच्छे स्तर के रंगमंच बने हैं, जैसे, कला भारती, पृथ्वी थिएटर्स, नाट्यमंच, कलामंच, विनय कला मंदिर आदि। (५) रेडियो की ओर से भी रंगमंच का खुला आयोजन किया जाने लगा है। (६) स्वतंत्रता दिवस आदि अवसरों पर बड़े-छोटे नगरों में सरकारी-गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा भी उत्साह से अच्छे प्रेरणापरक नाटक रंगमंच पर उपस्थित किये जाते हैं। (७) अब बिजली तथा बौद्धिक विकास तथा विज्ञान और सरकारी सहायता एवं युवक-युवतियों के सहयोग से कुशल नाट्यमंच स्थापित हो रहे हैं, सम्पूर्ण नाटक अभिनय किये जाने लगे हैं।

फिर भी इस क्षेत्र में कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं : (क) अनुशासनहीनता, (ख) जनता में पूर्ण सहयोग का अभाव (आज समाज अनेक संकटों में उलझा है इसलिए उसकी अभिरुचि और उत्साह

नाटक में नहीं हैं); (ग) अच्छे नाटकों का अभाव जिन्हें थोड़े-साधनों से ही सफलतापूर्वक खेला जा सके; (घ) अर्थभाव; (ङ) अभिनय में कुशल युवक-युवतियों के सहयोग की कमी, क्योंकि अभी हमारे समाज में इस कला के प्रति अच्छी धारणा नहीं है, लोग इसमें भाग लेने वालों के प्रति अच्छी धारणा नहीं रखते; (च) चलचित्र; (ज) भारतीय जनता में पैसे की कमी जिससे वह ड्रामा में अधिक पैसे देकर टिकट नहीं खरीद सकती; (झ) परस्पर संघर्ष और दलगत भावना की प्रबलता।

फिर भी इन कठिनाइयों और कमजोरियों के बावजूद रंगमंच का विकास और आदर्श निर्माण का चतुर्मुखी प्रयत्न हो रहा है और यह निरंतर उन्नति पर है। मेरे मतानुसार इतना होने पर भी निम्नलिखित योजनाएँ बनाना चाहिए जिससे इसकी प्रगति तेजी से और अधिक सफल ढंग से हो सके : प्रत्येक नगर और ब्लाक में नाट्यशाला बननी चाहिए; छोटे-छोटे दो या ढाई घंटे में खेले जाने योग्य नाटक प्रचुर मात्रा में लिखे जायें; नाटक यथार्थवादी तथा रोचक हों, साथ ही जन-समाज में प्रेरणा देने वाले हों; उनमें भद्दे और अश्लील प्रसंग न हों; नाटककार के संकेत के अनुसार अभिनय हों; नाटककार में रंगमंच की गतिविधि तथा अन्य दशाओं और सीमा से पूर्ण परिचित होने की चेष्टा हो; भाषा मध्यवर्गी हो, न पूर्णतया संस्कृतनिष्ठ, न एकदम सरल, मध्यवर्गीय भाषा ही नाटक की अच्छी भाषा हो सकती है; नाटककार को ही पात्रों की अवस्था आयु, वेषभूषा, आंगिक, सात्विक, वाचिक, आहार्य पर प्रकाश डालते रहना चाहिए; नारियों का भी इस क्षेत्र में यशशक्ति सहयोग लेना चाहिए; नाटक के अभिनय को भी जनता कला समझे, इस भावना के प्रसार का प्रयत्न होना चाहिए; अभिनयकर्ता को भी चारित्रिक महत्त्व पर ध्यान रखना चाहिए।



संस्कृति



दो रुपया

वर्ष 15 : अंक 2 और 3 (संयुक्तांक)

रंगमंच विशेषांक

47



शिक्षण संस्थाएं तथा नाट्यकला

विवेक दत्त शा

नाट्यविद्या मनोरंजन का साधन मात्र नहीं, जीवन की वास्तविकता की अभिव्यक्ति भी इस माध्यम से होती है। आत्मपरिचय की खोज आज रंगकर्मी का परम लक्ष्य है। भरत मुनि का 'नाट्यशास्त्र'; सीतामढ़ी (मध्य प्रदेश) की आदि रंगशाला तथा नागार्जुन-कोंडा का प्राचीनतम एम्फीथियेटर (रंगवाट) इस देश में लगभग दो हजार वर्ष प्राचीन नाट्यपरम्परा के चेतक हैं। संस्कृत काव्य, नाटक तथा कथा साहित्य एवं बौद्ध तथा जैन साहित्य भी इन प्रमाणों की पुष्टि करते हैं।

समृद्ध नाट्यपरम्परा वाले हमारे देश में नाटक की उपयोगिता पर प्रायः संदेह प्रकट किया जाता है। विदेशों में भी इस पर विवाद हुआ है, किंतु पाश्चात्य जगत में नाटक की व्यापक उपयोगिता अब निर्विवाद स्वीकार की जाती है। अमरीका और इंग्लैंड में दीर्घकाल से नाटक विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रम के अंग बने हुए हैं। वहां शिक्षण संस्थाओं में नाटकों के प्रदर्शन होते हैं, उन पर संगोष्ठियां आयोजित

की जाती हैं। रंगमंच, उन देशों में, चलचित्रों से अधिक लोकप्रिय है। रंगकर्मियों को सम्मान प्राप्त है। हमारे देश में नाटक को प्रायः मनोरंजन का साधन मात्र ही माना जाता है। रंगकर्मियों को सम्मान देना तो दूर, उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है। नाटक की उपयोगिता पर गंभीरतापूर्वक विचार करने वाले बहुत कम लोग हैं और इस क्षेत्र में जो भी लोग सक्रिय भाग लेते हैं उनमें से शायद ही किसी व्यक्ति का शिक्षा-संबंधी नीति-निर्धारण में कोई दखल हो।

भारत में ऐसे विश्वविद्यालय दो-चार ही हैं जिनके पाठ्यक्रमों में नाट्यशास्त्र का समावेश है। इसीलिये, ऐसे रंगकर्मियों की कमी है जो अपनी प्रतिभा द्वारा जीवन के विविध रूपों का सज्जत चित्रण करने में समर्थ हैं। व्यावसायिक रंगमंचों का बाहुल्य तो है, किंतु शोकिया रंगमंच गिने-बुने हैं। शिक्षण संस्थाओं में शोकिया रंगमंच लगभग नहीं के बराबर हैं। स्वस्थ, तर्कसंगत तथा निष्पक्ष



समीक्षाओं का अभाव भी नाट्यकला के विकास में बाधक है। शौकिया रंग संस्थाएं एक-दूसरे की आलोचना-प्रत्यालोचना करती पायी जाती हैं। समीक्षाओं को लेकर पिछले दिनों दिल्ली के रंग-गत में विवाद उठा था। अभिनय शैलियों, नाट्यपरम्पराओं, साहित्य भाषा तथा समर्थ, रंगदृष्टि के अभाव में उपयुक्त समीक्षा की अपेक्षा नहीं की जा सकती। प्रायः समीक्षाएं पाश्चात्य रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखी जाती हैं। पूर्व और पश्चिम की परंपराएं, संस्कृति तथा साहित्य परस्पर भिन्न हैं। हमारी सम्पन्न नाट्यपरंपरा है। हमारे रंग-कर्मियों की रचनाओं के मूल्यांकन के लिये तदनुरूप मानदण्ड आवश्यक हैं। पश्चिम का अनुकरण मौलिकता नहीं बनाये रह सकता।

पिछले दिनों भारतीय भाषाओं में ऐसे अनेक नाटक लिखे गये हैं जो अभिनय तथा संवेदनशील हैं; वे जीवन की वास्तविकता को उभाड़ते हैं। इन मौलिक नाटकों ने प्रबुद्ध वर्ग को प्रचुर सामग्री प्रदान की है। आज हिंदी भाषा में श्रेष्ठ नाटक, चाहे वे अन्य भाषाओं से अनुदित हों, सर्वाधिक हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली; महाराजा सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा; पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़; पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला तथा आंध्र विश्वविद्यालय, वाल्टेयर में नाट्यकला के विधिवत् प्रशिक्षण की व्यवस्था है। रंगमंच तथा नाट्य विद्या पर जो शिक्षण संस्थाएं शौकिया तौर पर ठोस कार्य कर रही हैं उनमें गोरखपुर विश्वविद्यालय, सागर विश्वविद्यालय तथा लखनऊ विश्वविद्यालय प्रमुख हैं। गोरखपुर में 'रूपांतर', सागर में 'युवक कल्याण एवं सांस्कृतिक परिषद्' तथा प्रयोग की उपलब्धियां उल्लेखनीय हैं।

वृद्धिजीवीयों की संस्था विश्वविद्यालयों में रंगमंच का अपेक्षित विकास क्यों नहीं हुआ? इसका मुख्य कारण विश्वविद्यालयों में प्रशासनिक अधिकारियों, अध्यापकों तथा छात्रों के बीच व्याप्त राजनीति है। रचनात्मक कार्यों में सहयोग की बात तो दूर, उनमें प्रायः बाधाएं उपस्थित की जाती हैं। सत्र का अधिकांश छात्र-आंदोलन तथा छात्रों में पारस्परिक वर्ग-संघर्ष में व्यतीत होता है उस अवधि में नाट्यप्रदर्शन प्रायः संभव नहीं होता। जब तक स्थिति सामान्य हो तब तक विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी में व्यस्त हो जाते हैं। गंभीर रंगकर्मियों (जिन की संख्या न्यून होती है) को नाटक के चयन से लेकर प्रदर्शन तक अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अध्ययन-अध्यापन के बाद उपलब्ध समय में इस प्रकार की

गंभीर गतिविधियों का आयोजन परिश्रम-साध्य है। अर्थ, मंचावतरण से संबंधित सामग्री, प्रदर्शन कक्ष तथा व्यवस्था संबंधी अनेक समस्याएं सामने होती हैं। इन सब का हल संयोजक तथा निर्देशक ढूंढ भी लें तो उनके अपने पात्र (प्रायः छात्र) संकट उपस्थित करते हैं। इन पात्रों को संस्था के ही ऐसे व्यक्तियों द्वारा उकसाया जाता है जिनके स्वार्थ कहीं-न-कहीं निहित होते हैं। ये व्यक्ति किसी भी वर्ग के प्रतिनिधि हो सकते हैं। बाधाओं का पारावार नहीं। इन सब का सामना करने की सामर्थ्य यदि रंगकर्मियों में हो तभी रंगमंच शिक्षण संस्थाओं में गौरवपूर्ण अस्तित्व रख सकने में समर्थ हो सकता है।

अब प्रश्न रंगमंच और नाटक की उपादेयता का है। नाटक स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करता है। वह श्रव्य तथा दृश्य दोनों हैं। वह समाज तक अपनी बात पहुंचाने का प्रभावशाली माध्यम है। चलचित्र से दर्शक की दूरी अधिक है। नाटक में दर्शक पात्रों से सीधा तादात्म्य स्थापित कर लेता है। मानवीय दुर्बलताओं तथा विडम्बनाओं का चित्रण दर्शक में अपना अंतर टटोलने की प्रेरणा प्रदान करता है, जो मूल्यबोध का प्रारम्भिक चरण है। मूल्यबोध के बिना मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं होता। शिक्षण संस्थाओं में नाटक की महत्वपूर्ण भूमिका है। इस माध्यम के द्वारा छात्र-छात्राएं ललितकला के तत्व तथा व्यावहारिक लाभ का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। उन्हें तब अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। समानधर्मा समुदाय के मध्य उनकी प्रतिभा मुखरित होती है, उनमें आत्मविश्वास जागृत होता है। खाली समय में युवा छात्र व्यर्थ घूमता है, वह सिनेमा, बाजार और न जाने कहाँ-कहाँ चकराता फिरता है, उलट-फेर, तोड़-फोड़ की योजनाएं बनाता है। ललितकलाओं या खेल-कूद में सच्ची रुचि जागृत होने पर अपव्यय और खुराफात के रास्ते अपने-आप बंद हो जाते हैं। नाटक के पूर्वाभ्यास के सिलसिले में समय पर उपस्थित होने की ऐच्छिक पाबन्दी तथा सहकर्मियों के साथ मेल-जोल से अनजाने ही अनुशासन, सहयोग और बंधुत्व की भावनाएं बढ़ती हैं। इस प्रकार नाट्यकला व्यावहारिक ज्ञानार्जन का एक प्रमुख माध्यम है। शिक्षण संस्थाओं में नाट्यसंबंधी गतिविधियों के कारण विद्यार्थियों तथा नाट्यप्रवर्ण अध्यापकों में पारस्परिक सम्पर्क बना रहता है। दोनों वर्ग कक्षाओं के बाहर एक-दूसरे को निकट से परखने का अवसर पाते हैं। आत्मीयता और सद्भावना का विकास विवादों तथा उथली समस्याओं को पनपने नहीं देता।

NEW DELHI:

A national theatre for India. To be or not be. That was the question at the two-day seminar organised by the Shriram Centre for Art and Culture in the end of May.

Due to an unforeseen personal circumstance, I could not attend the second day's proceedings, the only one open to invitees from the world of art and culture at large. But many of the persons who did attend the "open" session and to whom I talked, expressed their dismay at the closed nature of the seminar and that a handful of people, 20 participants in all, should lay down the obiter dicta, as it were, of what should be the future blueprint of the theatre scene in the country. Having failed to agree on the concept of a single national theatre for India, they inevitably compromised and watered down the whole thing by suggesting the establishment of as many "national theatres" as there are regions, to be housed in Rabindra Rangshalas where available and new buildings to be set up where not, to be managed by a national theatre trust in each region with 20 members to be drawn from nominees of the chairman, Sangeet Natak Akademi, state government nominees and some from allied arts, to be co-opted by the first two categories.

While we will go into the details of the recommendations of the 20 participants later, and while we do wish to put the most charitable interpretation on the basic philosophy of the Shriram Centre for organising this seminar, it is clear that the "discussion" the second day on the recommendations already made was little more than a face-saving concession to established democratic norms. We would prefer to believe that the organisers' main purpose was to initiate a step in the right direction of clarifying certain basic issues of the theatrical scene and that the desired open debate by large sections of the public, far from being over, is only beginning now.

It is a pity that the concept and

desirability of a "national theatre" has been confused with all kinds of extraneous issues at the seminar like fear of Hindi chauvinism, domination of New Delhi, (the inevitable site of a national theatre), if and when it comes about. There is nothing approximating a single unified tradition or concept of theatre. Many languages, many different regional forms of expression and tradition, many levels of artistic development characterise the loose entity of "Indian theatre". Historically it has drawn its strength from two factors: one, the fact that it has its roots firmly planted in its own native soil, second, that it has drawn

were to give this status to Hindi, will theatre in India cease to exist? To say this is to deny the tremendous resurgence in Indian theatre in recent years with the repeated presentation of numerous regional plays in Hindi, by the National School of Drama, by a host of amateur and professional theatre groups. But for their pioneering work, Badal Sircar and Girish Karnad, P. L. Deshpande and Indira Parthasarathi would be unknown to thousands of serious theatre goers.

The multiplicity of languages and creative forms in India is in itself a strong vindication of the need for a national theatre, set up in New

Muddled thinking on 'national' theatre

By Shanta Serbjeet Singh

inspiration from a singularly and distinctively "Indian" approach to life and literature.

But can we go from this point, on which all are agreed, to the next mooted by the seminar that therefore, "unlike many Western countries, we in India cannot have one monolithic national theatre, but many national theatres"? It is somewhat like saying that because, historically, we have never had the automobile and the jet plane, therefore our insistence on them in this day age is false. However, hard the protagonists of Hindi may deny our dependence on English, even 30 years after freedom has been won, is it not a fact that it has served us as a tool par excellence to achieve the goal of nationhood that eluded us for centuries? If theatre, like language, is to be considered first and foremost a tool of communication, then can there be two opinions about seeking a common and most effective theatrical language for expressing this need to communicate? Suppose for the sake of hypothesis, we

Delhi, with the single aim of bringing before the public eye the best and most meaningful theatrical writing and expression from the regions. Not all that is presented within its portals need be in Hindi. Indeed, if the triple theatre model of the British National Theatre is to be accepted, as suggested by Rajinder Paul in his keynote paper, then the use of one of the three theatres, by rotation (depending on what is sought to be staged) should be reserved for presenting regional plays in their original languages.

The recommendations of participants of the seminar, among them playwrights Adya Rangachari, Vijay Tendulkar, Mahesh Elkunchwar, J. P. Das, actors Habib Tanvir, Karanth, Bansi Kaul, M. K. Raina, Rajinder Nath and critics Suresh Awasthi, N. C. Jain, Romesh Chander, Frank Thakurdas.

"Serious theatrical effort in our country today is handicapped in innumerable ways. In some regions, there are compulsions of the commercial theatre with its accent on

sex, crime and violence which make it difficult for good theatre to exist and survive. In most others, there are few facilities like theatre halls, rehearsal space, job opportunities to enable talented young people to carry on their activities. There is, therefore, an urgent need for devising ways to change the situation and to provide opportunities not only for good regular theatre with professional standards reaching out to widest audiences, but also for innovative and experimental endeavour."

We thumpingly agree with the need to devise "ways to change the situation." But the "way" suggested by the seminar setting up of "national theatres" with regular repertory companies attached to them in each region, language or state, seems to be in essence no different from the existing state of affairs in which each state Sangeet Natak Akademi wing is supposed to sponsor and resuscitate significant work by local playwrights and production groups. True, a more organised group, devoted only to theatre, with its own repertory company, can do much more. But presuming the most optimum and ideal results from this regional body, which is entirely contrary to the experience of the past 30 years, how does the good word get around? Within the context of the present level of media's cold shoulder to the arts, its ignorance and insensitivity to the role of culture in a nation's life, how can one hope to bring the pains of one regional "national theatre" to the doorstep of another? How shall the problem of language be overcome except through translation into a more widely understood language like Hindi? Can the process of setting off ripples of dynamic theatrical activity from a central point be reversed?

Sure, let us by all means have well endowed, autonomous theatre bodies in each of the regions to co-ordinate the work already being done. But this cannot take the place of or do away with the need for, a national theatre in the sense of a centre which clarifies goals, sets standards for achieving them and presents the finished product to a discriminating audience.

